प्रसंगशः

आलोक मेहता

राजनीतिक परीक्षा का सही वक्त

संसद और विधानसभा के चुनाव एक साथ कराने के लिए जरूरत है इच्छाशक्ति की

उपराष्ट्रपति भैरोंसिंह शेखावत ने राष्ट्रीय बहस के लिए एक बड़ा मुद्दा उठाया है कि भारतीय संसदीय मर्यादा की चिंता करनी है तो सबसे पहले यह तय हो जाना चाहिए कि लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ हों। उनका मानना है कि 'ये चुनाव एक साथ होने से चुनावी खर्च में कमी आएगी और सरकार दबाव में नहीं रहेगी। हर वर्ष दो-तीन राज्यों में विधानसभाओं के चुनाव होते रहते हैं और उन्हें ध्यान में रखकर केंद्र सरकार जनता से जुड़े विषयों पर सख्त निर्णय नहीं ले पाती।' शेखावत जी जमीन की राजनीति से जुड़े रहे हैं और उन्हें संसदीय मर्यादाओं के टूटने की पीड़ा है। लेकिन उनकी टिप्पणी का इस समय विशेष महत्व है क्योंकि भारतीय जनता पार्टी भी नवंबर में पांच विधानसभाओं के साथ लोकसभा के मध्यावधि चुनाव की संभावनाओं पर विचार कर रही है। भाजपा ने गठबंधन की राजनीति को मजबूरी में स्वीकारा है और अपने दम पर राज करने की दशकों पुरानी इच्छा पूरी करने के लिए उसकी छटपटाहट बढ़ती जा रही है। शेखावत जी की यह धारणा भी गलत नहीं है कि निरंतर चुनावी प्रक्रिया चलती रहने से जातिगत राजनीति और भ्रष्टाचार पर लगाम कसना मुश्किल हो रहा है। चुनावी तैयारियों के लिए होने वाली राजनीतिक बैठकों में जातिगत समीकरणों और चुनावी खर्च की व्यवस्था पर अधिक जोर रहने लगा है। उम्मीदवारों का चयन ईमानदारी और योग्यता के आधार पर नहीं होकर जोड़-तोड़ की क्षमता के मापदंड से होता है। असल में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव अलग-अलग होने का दौर 1967 के बाद शुरू हुआ। केंद्र में सरकार कमजोर होने तथा राज्यों में दल-बदल का सिलसिला बढ़ने से प्रादेशिक क्षत्रप कमजोर होने लगे। प्रदेशों में प्रतिपक्ष की सरकारें रहने पर राज्यपाल की भूमिका केंद्र की सत्तारूढ़ पार्टी के एजेंट की तरह हो गई। राज्यपालों के राजनीतिकरण की पराकाष्ठा का बड़ा नमूना 1989-90 में देखने को मिला जबकि विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की केंद्र सरकार ने 18 राज्यपालों के इस्तीफे लेकर नई नियुक्तियां कीं। मुख्यमंत्रियों की बर्खास्तगी मजाक-सी बन गई। ऐसे अवसर भी आए जब बर्खास्त मुख्यमंत्री को पुनः नियुक्त करने की बाध्यता हुई। कड़वे राजनीतिक अनुभवों के बाद प्रदेशों में 6 महीनों से अधिक राष्ट्रपति शासन लागू न करने का कानून बन गया। लेकिन इससे निर्धारित समय पर चुनाव का लक्ष्य गड़बड़ा गया।

> अब तो कुछ राजनेता गहरे पानी में उतरने से पहले राजनीतिक थाह का पता लगाने के लिए राज्य विधानसभाओं के चुनाव उपयोगी मानते हैं।

अब तो कुछ राजनेता गहरे पानी में उतरने से पहले राजनीतिक थाह का पता लगाने के लिए राज्य विधानसभाओं के चुनाव उपयोगी मानते हैं। यदि केंद्र में सत्ताधारी नेता शक्तिशाली है तो अपनी पार्टी की सरकार होने पर भी उसे प्रदेश में ऐसा व्यक्ति बर्दाश्त नहीं होता जो अपने बल पर राज करे। प्रादेशिक लगाम केंद्र के पास रहने पर मुख्यमंत्री 'अनुकंपा' पर निर्भर रहते हैं। विद्रोह की स्थिति में विधानसभा भंग करने के साथ चुनाव की नौबत आ जाती है। इसलिए समय पर एक साथ संसद तथा विधानसभाओं का चुनाव करवाने के लिए राजनीतिक दलों को पहले अपनी नीयत ठीक करनी होगी। चुनाव आयोग कितनी ही आचार संहिता बना दे, उनके पालन की इच्छा रखने वाले राजनीतिक नेता और कार्यकर्ता कितने हैं? पूर्व निर्वाचन आयुक्त टी.एन. शेषन ने 1991 के चुनाव के दौरान उत्तर प्रदेश में एक सौ से अधिक लोग मारे जाने पर, 1993 में चुनाव से पहले लाइसेंसशुदा सभी हथियार प्रशासन को जमा करवाने तथा पुलिस मुस्तैदी के कड़े कदम उठाए तो केवल दो लोग मारे गए। लेकिन इसके बाद राजनीतिक दलों ने टिकट-वितरण के समय अपराधियों को ही बड़ी संख्या में उम्मीदवार बनाना शुरू कर दिया। उनके पास गैर लाइसेंस वाले हथियारों की कमी नहीं होती। उत्तर प्रदेश के 'राजा भैया' सबसे बड़ी मिसाल हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, आंध्र की तरह अन्य राज्यों में धन और धमाकों के बल पर चुनाव जीतना आसान समझा जाने लगा है। लोकसभा के ऐसे कई निर्वाचन क्षेत्र हैं जहां चुनाव के दौरान तीन से पांच करोड़ रुपये तक का खर्च होता है। दलितों के नाम पर खड़े हुए एक राजनीतिक दल ने तो चुनाव से पहले उम्मीदवार बनाने का रेट 25 से 50 लाख रुपये तय कर दिया। जब टिकट लेने से जीतने तक उम्मीदवार डेढ़-दो करोड़ रुपये खर्च कर देगा तो जीतने के बाद क्या वह ब्याज सहित वसूली नहीं करेगा? फिर दल बदलने, सरकार गिराने या समय से पूर्व चुनाव की स्थिति बनवाने के लिए कोई पांच करोड़ की व्यवस्था कर दे तो वह 'राजनीतिक बलि' के लिए क्यों नहीं तैयार हो जाएगा? राजनीतिक गंदगी बढ़ने पर अफसरनुमा अंग्रेजी झाड़ने वाले कुछ नेता बहुत सहजता से देश की जनता को 'गलत पसंदगी' के लिए कोसते हैं? वे भूल जाते हैं कि उदारीकरण के दौर में चकाचौंध के जरिये उपभोक्ता के दिमाग में माल खरीदने की मजबूरी बना दी जाती है। अपनी पसंद का सवाल तब उठता है जब उसकी सही पहचान की क्षमता विकसित होने दी जाए। तमिलनाडु में 'अम्मा', बिहार में लालू, उत्तर प्रदेश में माया या मुलायम का जादू इसीलिए चलता है क्योंकि मतदाता अंधभक्ति में वोट डालता है। यही फार्मूला अपनाकर भाजपा 'धर्म' को नशे के रूप में इस्तेमाल करना चाहती है। कोई उम्मीदवार हो, यदि वह धन, धर्म और धमाके में पारंगत है तो उसकी विजय सुनिश्चित समझी जाती है। कांग्रेस पार्टी की हालत तो और भी बदतर है क्योंकि राष्ट्रीय राजनीतिक साख गिरने से उसके पास छंटे-छंटाए, गए-गुजरे उम्मीदवार पहुंच रहे हैं। गुजरात विधानसभा चुनाव में एक उम्मीदवार ने कांग्रेस का चुनाव चिह्न पाने के लिए डेढ़ करोड़ रुपये की बढ़ोती कर दी। वह चुनाव भी हार गया लेकिन उसे एक बड़ी राजनीतिक पार्टी के उम्मीदवार होने का 'चारित्रिक प्रमाण पत्र' तो मिल गया। करीब एक दशक पहले कांग्रेस राज में कई हत्या कांडों के लिए कुख्यात एक अपराधी ने लगभग तीन करोड़ रुपये देकर 'अपनी' सरकार से नामजदगी वाली श्रेणी में राज्यसभा की सदस्यता हासिल करने के लिए पूरी ताकत झोंक दी। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने एक बार फाइल वापस की लेकिन कांग्रेसी सरकार के लिए 'थैली' का महत्व अधिक था और संवैधानिक प्रावधानों के तहत दुबारा फाइल भेजकर डॉ. शर्मा से स्वीकृति की मुहर लगवा ली गई। जब संसद और विधानसभाओं की सदस्यता के लिए खरीद-फरोख्त का आलम यह होगा तो चुनाव का मुहूर्त शरीफ राजनेता कैसे निकाल पाएंगे?

फिलहाल भाजपा को अपना भविष्य ध्यान में रखकर आगामी चुनाव के पासे फेंकने हैं। उसे मालूम है कि पांच विधानसभाओं के चुनाव परिणाम अनुकूल नहीं आने पर राजनीतिक हवा का रुख बहुत बदल जाएगा। राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक प्रभाव वाले राजनीतिक दलों का अस्तित्व रहे बिना क्या एक साथ चुनाव तथा राजनीतिक आचार संहिता के आदर्शों का सपना साकार हो सकता है? जनता की नब्ज समझे बिना सही वक्त की पहचान क्या कोई राजनेता कर सकता है? प्रजातंत्र में स्वतंत्रता और अधिकारों के सुख के लिए कर्तव्य निभाने की सदिच्छा कितनों की है? ●